विक्रम संवाद

पाक्षिक आलेख सेवा/नि:शुल्क वितरण के लिए

सम्पादक
महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ
1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010
फोन : 0734-2521499, 0755-2660407
Email : mvspujjain@gmail.com
vikramadityashodhpeeth@gmail.com
Web : www.mvspujjain.com

इस अंक में

पृष्ठ क्र. 1-2
भूगोलशास्त्र की भारतीय परंपरा
विजय परिहार

पृष्ठ क्र. 3-4
मालवा की मुद्राओं पर देवियों की आकृतियाँ
अमित बिसेन

पृष्ठ क्र. 5-6
भारतीय वेशभूषा का अतीत
प्रवेश दीक्षित

पृष्ठ क्र. 7
पुरातन साहित्य और कथाएँ
मनीष रत्नपारखी

पृष्ठ क्र. 8
गाथा एक विश्वविख्यात ग्रंथ की
मिथिलेश यादव

भूगोलशास्त्र की भारतीय परंपरा

विजय परिहार

भारतीय भूगोल का इतिहास उतना ही पुराना है जितना कि भारतीय सभ्यता का इतिहास। यद्यपि किसी विशेष ग्रंथ में भौगोलिक ज्ञान का व्यवस्थित विवरण नहीं दिया गया है, तथापि भौगोलिक ज्ञान को वैदिक पाठ, हिंदू पौराणिक कथाओं, पुराण और रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्यों में देखा जा सकता है। भौगोलिक ज्ञान जैन और बौद्ध ग्रंथों में भी देखा जा सकता है।

सर्वप्रथम भूगोल शब्द का प्रयोग पुस्तक 'सूर्यसिद्धांतिका' में किया था। रामायण महाकाव्यों में उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में श्रीलंका तक भौगोलिक ज्ञान जैसे पर्वत, स्थलाकृति, पठार, पहाड़ियाँ, निवासी, महासागर और महत्वपूर्ण स्थानों का उल्लेख किया गया है। बौद्ध जातक कथाओं में प्राचीन भारत के भौगोलिक ज्ञान का भी उल्लेख मिलता है। पुराण और प्राचीन वैदिक पाठ के अनुसार, पृथ्वी पर सात द्वीप हैं– जम्बू द्वीप, कुश द्वीप, प्लाश्का द्वीप, पुष्कर द्वीप, सलमाली द्वीप, क्रांकरा द्वीप और शक द्वीप। भारतीय उपमहाद्वीप सहित एशिया का अधिकांश भाग जम्बू द्वीप का भाग है। भूगोल प्राचीन काल से उपयोगी विषय रहा है और आज भी यह अत्यन्त उपयोगी है। भारत, चीन और प्राचीन यूनानी–रोमन सभ्यताओं ने प्राचीन काल से ही दूसरी जगहों के वर्णन और अध्ययन में रूचि ली। मध्य युग में अरबों और ईरानी लोगों ने यात्रा विवरणों और वर्णनों से इसे समृद्ध किया। आधुनिक युग के प्रारंभ के साथ ही भौगोलिक खोजों का युग आया जिसमें पृथ्वी के ज्ञात भागों और उनके निवासियों के विषय में ज्ञान में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। भूगोल की विचारधारा या चिंतन में भी समय के साथ बदलाव हुए जिनका अध्ययन भूगोल के इतिहास में किया जाता है। उन्नीसवीं सदी में पर्यावरणीय निश्चयवाद, संभववाद और प्रदेशवाद से होते हुए बीसवीं सदी में मात्रात्मक क्रांति और व्यावहारिक भूगोल से होते हुए वर्तमान समय में भूगोल की चिंतनधारा आलोचनात्मक भूगोल तक पहुँच चुकी है। भूगोल को सृष्टि तथा मानव की उत्पत्ति संबद्ध मानते हुए भारतीय योगदान आरंभ होता है। वैदिक काल में भूगोल से संबंधित वर्णन वैदिक रचनाओं में प्राप्त होते हैं। ब्रह्मांड, पृथ्वी, वायु, जल, अग्नि, अकाश, सूर्य, नक्षत्र तथा राशियों का विवरण वेदों, पुराणों और अन्य ग्रंथों में दिया ही गया है किंतु उन ग्रंथों में सांस्कृतिक तथा मानव भूगोल की छाया भी मिलती है। भारत में अन्य शास्त्रों के साथ–साथ ज्योतिष, ज्यामिति तथा खगोल का भी विकास हुआ था जिनकी झलक प्राचीन खंडहरों या अवशेष ग्रंथों में मिलती है। महाकाव्य काल में सामरिक, सांस्कृतिक भूगोल के विकास के संकेत मिलते हैं। प्राचीन काल में भारत की भौतिक जानकारियों के स्रोत आधुनिक स्रोतों से भिन्न तथा अल्प थे। हमारे देश में भारतीय सभ्यता की शुरुआत से ही विभिन्न भौगोलिक अवधारणाएँ विकसित होती रही है तथा भारतीय भूगोल का एक लंबा इतिहास रहा है। भले ही आज हमारे पास शास्त्रीय भारतीय भौगोलिक अवधारणाओं का एक व्यवस्थित विवरण पलब्ध नहीं है फिर भी कुछ मूल्यवान भौगोलिक जानकारी हिंदू पौराणिक कथाओं दर्शनशास्त्रों महाकाव्यों इतिहास और पवित्र कानूनों में सम्मिलित हैं। कालक्रम के अनुसार वैदिक रामायण, महाभारत, बौद्धों और जैनियों के कार्य, जातक कथाओं तथा पुराण प्राचीन भारतीय भौगोलिक अवधारणाओं के मुख्य स्रोत हैं। प्राचीन काल के भारतीय विद्वानों को भारत और आसपास के देशों की स्थलाकृति, आकृति, विज्ञान, वनस्पतियों, जीवों, प्राकृतिक संसाधनों, कृषि और अन्य सामाजिक आर्थिक गतिविधियों का सटीक ज्ञान था। वैदिक युग ने भूगोलवेत्ताओं को प्रेरित किया और उन्होंने भूगोल की विभिन्न शाखाओं में बहुमूल्य रचनाएँ कीं। रामायण में पहाड़ों, नदियों, पठारों और महत्वपूर्ण स्थानों की सूची बनाई गई है तथा महाभारत का महाकाव्य भौगोलिक ज्ञान के विश्वकोश के रूप में काम कर

सकता है। भुवनकोसा अन्य बातों के अलावा जलवायु विज्ञान और मौसम विज्ञान के बारे में विस्तार से बताता है तथा बौद्ध जातक प्राचीन भूगोल का काफी अच्छा ज्ञान प्रस्तुत करते हैं। भारतीय भौगोलिक साहित्य में 'भुगोला' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग सूर्यसिद्धान्त में किया गया था यह शब्द पूर्वजों के लिए जाना जाता है। लेखक इसमें पृथ्वी की सतह की अवधारणा जो भारतवर्ष तथा उसकी भूमि, लोग, गाँव और नगर नियोजन के संबंध में पूर्वजों की धारणा को स्पष्ट करती है को परिभाषित करने में सफल रहे हैं। प्राचीन भारतीय भूगोल धर्म पर टिका है प्रत्येक भौतिक घटना तथा पृथ्वी की सतह पर प्रत्येक प्रमुख या भव्य स्थलचिह्न भारतीयों के लिए एक धार्मिक पृष्ठभूमि है। भारत में हर पर्वत शिखर, नदियाँ, चट्टानें, विशाल तथा सार्थक पेड़ पावन तथा अलौकिक हैं और इन परंपराओं में संरक्षित है। धार्मिक अभिलेखों के अलावा दुनिया के विभिन्न क्षेत्रों के वर्णन में यात्रियों और उनके वृत्तांतों की भी प्रचुरता है। इन यात्रियों के विवरण से पता चलता है कि भारत के पड़ोसी देशों के साथ घनिष्ठ संबंध थे और भारतीय विद्वान चीन, दक्षिण–पूर्व एशिया, मध्य एशिया, मेसोपोटामियया और ट्रांस–ऑक्सस एशिया की भौगोलिक परिस्थितियों से भी परिचित थे। धार्मिक अभिलेखों, ऐतिहासिक लेखों तथा यात्रा वृत्तांतों के गहन अध्ययन से पता चलता है कि प्राचीन भारतीय विद्वानों के पास विभिन्न द्विपों, महाद्वीपों, पर्वत प्रणालियों, नदियों, जीवों और उपमहाद्वीप के वनस्पतियों और इसके आसपास की भूमि का भी अच्छा ज्ञान था।

वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, आर्यभट्ट, भास्कराचार्य, भट्टिला, उत्पल, विजयनंदी तथा अन्य विद्वानों द्वारा किए गए कार्यों ने खगोल विज्ञानॉ गणितीय भूगोल और मानचित्रकारी के विकास में काफी मदद की है। इस प्रकार, प्राचीन काल के भूगोल में खगोल विज्ञान को अपने क्षेत्र में शामिल किया गया होगा। भारतीय पद्म पुराणों में भोगोल अर्थात भूगोल, खोगोल अर्थात अंतरिक्ष विज्ञान तथा ज्योतिषशास्त्र अर्थात खगोल–विद्या के बीच अंतर किया गया है। पृथ्वी की अवधारणा भूगोल के अध्ययन में सबसे बुनियादी अवधारणा है। वेदों और पुराणों में 'पृथ्वी' शब्द का व्यापक रूप से प्रयोग किया गया है। प्राचीन भारतीय साहित्य में 'भोगोल' शब्द पृथ्वी के गोलाकार आकार को दर्शाता है। पृथ्वी एक चपटा गोलाकार है जो ध्रुवों पर थोड़ा चपटा होता है, इसका भूमध्यरेखीय व्यास 12.757 किमी और ध्रुवीय व्यास 12.713 किमी है। वैदिक और पौराणिक साहित्य में पृथ्वी के आयामों के बारे में कोई निश्चित जानकारी उपलब्ध नहीं है, लेकिन 5वीं और 6वीं शताब्दी का खगोल विज्ञान पर साहित्य कुछ ठोस जानकारी देता है। भूमध्य रेखा के संबंध में पृथ्वी की सतह पर एक बिंदु की स्थिति, जिसे भूमध्य रेखा से इसकी कोणीय दूरी के रूप में व्यक्त किया जाता है, अक्षांश के रूप में जाना जाता है, जबकि देशांतर किसी दिए गए बिंदु की कोणीय दूरी है, जिसे ग्रीनविच मध्याह्न के पूर्व या पश्चिम में डिग्री में मापा जाता है। शास्त्रीय भारतीय खगोलविद् पृथ्वी की सतह पर किसी बिंदु या स्थान के निर्धारण में अक्षांश और देशांतर के महत्व के प्रति सचेत थे। पुराणों में भी अक्षांश और देशांतर का उल्लेख मिलता है। अक्षांशों के आधार पर उन्होंने पृथ्वी को विभिन्न प्रदेशों में विभाजित किया है। ब्रह्मांड की उत्पत्ति का उल्लेख वैदिक पाठ में भी मिलता है। ब्रह्मा ने ब्रह्माण्ड बनाया है और इसका एक निश्चित जीवन है। एक निश्चित उम्र के बाद, शिव द्वारा ब्रह्माण्ड को नष्ट कर दिया जाएगा और फिर से ब्रह्मा द्वारा ब्रह्माण्ड का पुनर्निर्माण किया जाएगा। बिग बैंग थ्योरी में सबसे स्वीकृत आधुनिक थ्योरी में भी यही बातें बताई गई हैं कि ब्रह्माण्ड की एक निश्चित उम्र होती है। ब्रह्माण्ड का विस्तार और पतन चक्रीय तरीके से होता है। वैदिक पाठ के अनुसार, ब्रह्माण्ड से सब कुछ पाँच मूल तत्वों जैसे वायु, जल, अग्नि, मिट्टी और आकाश से बना है। वैदिक पाठ में, नौ ग्रहों की अवधारणा का उल्लेख किया गया है। हम अभी भी हिंदू धार्मिक अनुष्ठानों में नौ ग्रहों पर प्रार्थना करते हैं। आधुनिक भूगोल में नौ ग्रहों की अवधारणा सत्य है। हालाँकि वैदिक पाठ के अनुसार नौ ग्रहों के नाम सूर्य, चंद्रमा, पृथ्वी, मंगल, बुध, शुक्र, बृहस्पति, शनि, राहु और केतु हैं। प्राचीन भारतीय भूगोलवेत्ता मेसोपोटामिया, मध्य एशिया, दक्षिण पूर्व एशिया और तिब्बत की भौगोलिक स्थितियों से भी परिचित थे। आर्यभट्ट, वराहमिहिर, भास्कराचार्य और ब्रह्मगुप्त प्रमुख भारतीय विद्वान थे जिन्होंने भूगोल के क्षेत्र में योगदान दिया। यह आर्यभट्ट थे, जिन्होंने सबसे पहले हमें बताया कि पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है और दिन और रात पृथ्वी के अपनी धुरी पर घूमने के कारण होते हैं। गुप्त युग के पाठ, सूर्य सिद्धांत में पृथ्वी के गोलाकार आकार, युगों की गणना (भूगर्भीय समय), ग्रहण और ग्रहण के रंग जैसे कई भौगोलिक ज्ञान का उल्लेख किया गया है। प्रत्येक भौगोलिक विचार का धर्म से सहसम्बन्ध देखा जाता है। प्राचीन भूगोलवेत्ताओं ने भूकम्पों, वातावरण, मौसम और जलवायुवीय परिघटनाओं की विस्तृत व्याख्या की। वराहमिहर ने ग्रहण की अवधारणा को समझाया।

मालवा की मुद्राओं पर देवियों की आकृतियाँ

अमित बिसेन

मालवा के अन्तर्गत–विदिशा क्षेत्र से उपलब्ध सूर्यध्वज तथा खड़ी मानवाकृति प्रकार की मुद्राओं को समीक्षात्मक रूप में लें तो प्राचीन भारतीय इतिहास में सर्व प्रथम यहाँ सूर्य पूजा का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। अवन्ति मुद्राओं पर अंकित सूर्यध्वज धारित मानवाकृति के सम्बन्ध में वी. स्मिथ का मत विचारणीय है। उनके मतानुसार दो संभावनाएँ हो सकती हैं या तो यह शासक की आकृति अथवा देवाकृति हो सकती है। यदि यह स्थानीय शासक की आकृति है तो वह स्पष्ट रूप से परमादित्य भक्त प्रकट होता है, जो दाहिने हाथ में स्वयं सूर्यध्वज धारण किये हुए है। अतएव स्वाभाविक रूप से यह शासक सूर्य का एक निष्ठ भक्त (परमसौर) तथा यह दण्ड सूर्यध्वज नाम से अभिहित किया जा सकता है। इन मुद्राओं का तिथिक्रम द्वितीय शती ईसा पूर्व से प्रथम शती ईसा पूर्व माना गया है। (ऐसी ही एक तत्कालीन मुद्रा पर राजा विक्रमादित्य नामांकित होने से ज्ञात होता है कि वे बिना नाम की मुद्रा भी इसी राजा ने जारी की होगी)। इस प्रकार मुद्रा–साक्ष्य के आधार पर यह स्पष्ट रूप से प्रकट होता है कि मालवा क्षेत्र में प्रारम्भ में सूर्य को आकाशीय देवता मानकर पूजा की जाती थी, कालान्तर में सूर्य का मानवीकरण हो गया व उनके इस स्वरूप की पूजा–अर्चना होने लगी। निष्कर्षतः अवन्ति–विदिशा से उपलब्ध मुद्राओं (खड़ी मानवाकृति दाहिने हाथ में ध्वज धारण किये हुए) से ज्ञात होता है कि द्वितीय या प्रथम शती ईसा पूर्व में सूर्य का मानवीकृत स्वरूप मान्य हो गया था। सूर्य के मानवीकृत स्वरूप की पूजा–अर्चना व आराधना सम्पूर्ण मालवा में की जाती रही होगी व यह समस्त क्षेत्र जैसा कि बाद के साहित्यिक व पुरातात्विक साधन स्रोतों (वराहमिहिर की बृहत्संहिता, बृहज्जातक तथा मंदसौर का कुमारगुप्त बंधुवर्मन का प्रस्तर अभिलेख) से ज्ञातव्य है कि सौर धर्म (सूर्य–पूजकों) का यह प्रमुख स्थल बना रहा। शेव–शाक्त सम्प्रदाय मालवा की शैव–शाक्त परम्परा का एक क्रमबद्ध इतिहास है। यहाँ के पुरावशेष उस इतिहास की समृद्ध कड़ियाँ हैं। शैल चित्रों को इस परम्परा से जोड़ने के प्रयास अवश्य किये गये हैं। वि. श्री. वाकणकर का मत है कि भीमबैठका में चित्रित रुद्र, नृत्य रत शिव और निर्वस्त्र देवी तथा अनेक प्रतीक आदिम युग में शिव और शक्ति के प्रति समादर के परिचायक है। शैव–शाक्त परम्परा की सबल पुरातात्विक अभिव्यक्ति मालवा से प्राप्त अनेक प्रकार की आहत तथा ढली मुद्राओं पर अंकित शिव तथा देवी की आकृतियों से होती है। उज्जयिनी से प्राप्त एक ढली–ताम्र मुद्रा पर दो वेदिका वृक्षों के मध्य चौकोर पीठासन पर शिवलिंग स्थापित अंकित है। इससे शिवलिंग की पूजा का प्रारंभिक प्रमाण यहाँ पर स्पष्टतः दृष्टिगत होता है। उज्जयिनी को द्वादश ज्योतिलिंगों में एक महत्वपूर्ण स्थल माना गया है। मुद्राओं पर खड़ी आकृति, जिसके दाहिने हाथ में दंड, त्रिशूल या भल्ल व बायें हाथ में कमंडल का अंकन है, तादात्म्य निश्चित ही शिव से किया जा सकता है। अवन्ति– विदिशा तथा आवरा की कुछ मुद्राओं पर त्रिशिर आकृति का अंकन है। इनके दाहिने हाथ में दण्ड, बायें हाथ में कमंडल अंकित है। इससे शिव आकृति का आभास होता है। त्रिशूल धारी, भल्ल, चर्माम्बर, पशुपति ये सभी शिव के प्रतीक है। इस त्रिशिराकृति को घ्लन ने षण्मुख माना है, क्योंकि सम्मुख शिव दृष्टिगम्य व वाम भाग के त्रिशिर अदृश्य है तथा इस आकृति को कार्तिकेय कहा गया है, परन्तु यह शिव का अंकन है, क्योंकि त्रिशिर शिव की प्राचीन प्रतिमाएँ उज्जयिनी के समीपस्थ क्षेत्र से प्राप्त हुई है। मुद्राओं पर अंकित पद्मासन स्थित आकृति को घ्लन ने लक्ष्मी का अंकन माना है, परन्तु एन.सी. घोष के मत में यह शिव आकृति का अंकन है। जे.एन. बनर्जी ने त्रिशिराकृति के अंकन को उज्जयिनी के महाकाल शिव से तादात्म्य किया है। उज्जयिनी मुद्राओं पर शिव के विविध स्वरूपों का अंकन है। इन स्वरूपों में स्थानक शिव अकेले अथवा नंदी सहित, सदाशिव (जिसे घ्लन ने कार्तिकेय माना है), योगीश्वर अथवा लकुलीश का अंकन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। एन.सी. घोष ने घ्लन द्वारा मान्य लक्ष्मी चिह्न को दण्डधारी शिव माना है, वस्तुतः वह लकुलीश शिव का ही स्वरूप है। महर्षि पतंजलि ने अपने महाभाष्य में लकुलीश पाशुपतों को दण्डधारी लिखा है। उज्जयिनी–विदिशा व मालवा के अन्य स्थलों से प्राप्त ताम्र–आहत व ढली–ताम्र मुद्राओं पर दण्डधारी पुरुष की प्रतिमा अंकित है। यद्यपि इस दण्ड को महाकाल का आयुध माना जाता है, किन्तु यह भी धारणा है कि यह लकुलीश–पाशुपतों के आराध्य का प्रतीक रहा होगा। लकुलीश सम्प्रदाय पाशुपतों की ही एक शाखा थी। उज्जयिनी लकुलीशों का प्रमुख केन्द्र रही है। विद्वानों ने लकुलीश अवतार का सम्बन्ध गुजरात स्थित कायावरोहण (करवन) नामक स्थान से सम्बन्धित किया है, लेकिन मालवा से प्राप्त प्राचीन पुरातात्विक

प्रमाण (मुद्राओं) तथा उज्जयिनी क्षेत्र स्थित कायावरोहणेश्वर मंदिर वबपंचक्रोशी परिक्रमा का विश्राम स्थल करोहण ग्राम उक्त मान्यता पर पुनर्विचार करने को बाध्य कर देते हैं। क्या यह संभव नहीं कि सुप्रसिद्ध शैव–तीर्थ उज्जयिनी के समीप ही करोहण तीर्थ में लकुलीश अवतार हुआ हो व उसके फलस्वरूप इन लकुलीश प्रकार की मुद्राओं को प्रसारित किया गया हो। अतएव मालवा से प्राप्त मुद्राओं से यह ज्ञात होता है कि उनकी पूजा–अर्चा विभिन्न रूपों यथा शिव लिंग, एक मुख तथा त्रिशिर अथवा त्रिमुख रूप में की जाती थी। योगीश्वर और लकुलीश स्वरूप में भी वे आराध्य देव थे। मातृ देवी का अंकन– मालवा की मुद्राओं पर मातृ देवी का अंकन विभिन्न रूपों में मिलता है। देवी की जो आकृतियाँ इन मुद्राओं पर अंकित है, उनमें बैठी हुई, समभंग मुद्रा में खड़ी हुई देवी, नृत्य रत देवी, दाहिना हाथ उपर उठा हुआ, खड़ी हुई अवस्था में दाहिना हाथ नीचे लटक रहा है व बायाँ हाथ ऊपर उठा हुआ उसमें मकार अंकित हैं तथा एक देवी के दाहिने हाथ में एक शस्त्र व बायाँ हाथ ऊपर उठा हुआ है। मालवा के विभिन्न उत्खनित स्थलों जैसे उज्जयिनी, दंगवाड़ा तथा कायथा आदि से मातृ देवियों की मृण्मूर्तियाँ उपलब्ध हुई है। पुराविद स.का. दीक्षित जिन्होंने एम.बी. गर्दे के साथ उज्जयिनी उत्खनन में भाग लिया था, के अनुसार उत्खनन में मौर्यकालीन देवी की एक धातु प्रतिमा भी मिली थी। इस प्रकार प्राचीन मुद्राओं तथा पुरातात्विक उत्खनित स्थलों से प्राप्त मातृ देवी की मृण्मूर्तियों से मातृ देवी की पूजा परम्परा का प्रमाण मालवा में मिलता है। लकुलीश गुजरात के अपने कारवण स्थान से उज्जयिनी पैदल आये थे। यहाँ आकार उन्होंने की रचना करके अपने शिष्यों को वह प्रदान किया था। कुमारसंभव के पाँचवें सत्र में कालिदास ने दंडधर बटुक (लकुलीश) रूप शिव का वर्णन किया है। स्कन्द–देवसेना अथवा उमा–महेश्वरः इस प्रकार की मुद्राएँ केवल उज्जयिनी से बहुत कम मात्रा में प्राप्त हुई हैं। एक मुद्रा पर दोनों नदी तट पर खड़े हैं, उनके नीचे लहरों की रेखा तथा मत्स्यकूर्म अंकित है। स्कन्द के शिरो भाग के दाहिनी ओर मकार एवं बाँयीं ओर स्वास्तिक है। स्कन्द धोती के समान वस्त्र धारण किये हुए है। अन्य दो वर्गाकार मुद्राओं के पुरोभाग पर स्कन्द–देवसेना खड़े हैं। इस प्रकार की एक मुद्रा जे.एन. बेनर्जी ने प्रकाशित की है। उनके मतानुसार इस वर्गाकार मुद्रा के पुरोभाग पर दो आकृतियाँ अंकित है। वस्त्राभूषण एवं आकृतियों की मुखाकृति से इन दोनों को उन्होंने यक्ष, यक्षी माना है। उनका अन्य कथन है कि ये दोनों आकृतियाँ भिलसा से प्राप्त यक्ष–यक्षी सदृश है। पुरुष ग्रैवेयक धारण किये हुए जो कि मथुरा एवं ग्वालियर संग्रहालय स्थित प्रतिमा के समान हैं। ये मुद्राएँ महाकाल प्रकार की मुद्राओं से अधिक साम्य रखती हैं। ये आकृतियाँ संभवतः उमा–महेश्वर की भी हो सकती हैं। प्रतीकों में स्वास्तिक, नंदिपद, पंचांगुलांक, विविध प्रकार के ध्वज त्रिशूल, नागबंध, मकार आदि का आलेखन भी शैव–शाक्त परम्परा से सम्बन्धित माना जा सकता है। इस प्रकार मालवा क्षेत्र से प्राप्त आहत तथा ढली हुई प्रकारों की प्राचीन मुद्राओं पर नंदी, शिव तथा देवी का अंकन इस तथ्य का पुष्ट प्रमाण है कि उनके पूजा की परम्परा राजवंशों के साथ–साथ जन साधारण में भी व्याप्त हो चुकी थी। इनमें से कुछ चिन्ह महात्मा बुद्ध के जीवन की घटनाओं से सम्बन्धित हैं। स्यूनर ने सर्व प्रथम इस मत का प्रतिपादन किया कि यह वृक्ष बोधि वृक्ष का प्रतिनिधित्व करता है। परम्परागत रूप से भी यह विश्वास किया जाता है कि भगवान बुद्ध को बोध गया में बोधिवृक्ष के नीचे ही आत्म ज्ञान की प्राप्ति हुई। मेरु चिन्ह को बसाक तथा फूशे ने धर्मराजिक स्तूप माना है। छत्र से आवेष्टित कूट कनिंघम द्वारा बौद्ध स्तूप कहा गया है। अर्द्धवृत्त से आवरित मेरु से ऐसा संकेत होता है कि स्तूप पर कंचुक आच्छादन किया गया होगा। चन्द्र मेरु और हस्ति अंकित मुद्राओं से बौद्ध धर्म सम्बन्धी गतिविधि की जानकारी मिलती है। हस्ति गौतम बुद्ध के जन्म का प्रतीक माना गया है व स्तूप बुद्ध के महापरिनिर्वाण का। चन्द्र मेरु मौर्य वंश का राजांक माना गया है। मौर्य–सम्राट अशोक ने बौद्ध धर्म का प्रचार–प्रसार किया इसकी पुष्टि, उज्जयिनी, कसरावद उत्खनन व विदिशा से प्राप्त चन्द्र मेरु तथा हस्ति अंकित मुद्राओं से होती है। उज्जयिनी के समीपस्थ क्षेत्र वैश्या टेकड़ी व कुम्हार टेकड़ी स्तूप उत्खनन से प्रकाश में आये है। कसरावद के उत्खनन से भी स्तूपों की रचना ज्ञात होती है। विदिशा के समीपस्थ साँची में अशोककालीन स्तूप स्थित है। अतएव मुद्राओं पर अंकित चिन्हों से व पुरातात्विक उत्खननों से बौद्ध धर्म सम्बन्धी सूचनाएँ मिलती है। अश्व सिद्धार्थ के महाभिनिष्क्रमण का प्रतीक है। अष्टार चक्र को फूशे ने बौद्ध धर्म से संबंधित धर्म चक्र माना है। भरहुत व साँची स्तूपों की वेदिकाओं पर इस प्रकार के धर्म चक्र उकेरे गये हैं, इससे यह बौद्ध धर्म को दर्शाता है तथा यह धर्म चक्र प्रवर्तन को इंगित करता है। ट्रिस्केलीज व त्रिरत्न चिन्ह बौद्ध धर्म के त्रिरल बुद्ध, धर्म व संध से संबंधित हो सकते है। मकार चिन्ह बौद्ध धर्म में मांगलिक चिन्ह माना गया है। उज्जयिनी से प्राप्त एक ढली–ताम्र मुद्रा पर साँची स्तूप का तोरण द्वार भी अंकित है। निष्कर्षतः मालवा से प्राप्त मुद्राओं पर अंकित चिन्हों से हिन्दू धर्म (ब्राह्मण, बौद्ध, व जैन धर्म) का मधुमय निदर्शन व समन्वयकारी प्रवृति ज्ञात होती है। इस क्षेत्र के राजवंशों तथा जनमानस की सहिष्णुता का यह उत्कृष्टतम उदाहरण है। स्वस्तिकः मालवा की अधिकांश मुद्राओं पर यह चिन्ह अंकित है। हड़प्पा से प्राप्त मृण्मयी मोहरों पर स्वास्तिक अंकित है। मालवा के ताम्राश्मीय मृण्पात्रों पर इसे अलंकारिक रूप में प्रयुक्त किया गया है। ई.बी. थामस का मत है कि स्वास्तिक चिन्ह सूर्य का प्रतिनिधित्व करता है। यह चिन्ह सम्पूर्ण गतिशील प्राणि–जगत का प्रतिनिधि है। यह चिन्ह समृद्धि को भी दर्शाता है। स्वास्तिक चिन्ह जैन तीर्थंकर सुपार्श्व का लांच्छन चिन्ह है। यह जैन धर्म के अष्टमांगलिक चिन्हों मे से एक है। वि.श्री. वाकणकर के मतानुसार यह चिन्ह यज्ञों के शुभअवसर तथा धार्मिक गृह कार्यों के मांगलिक अवसर पर मंडित किया जाता है, तथा यह पवित्रता व समृद्धि का घोतक है।

भारतीय वेशभूषा का अतीत

प्रवेश दीक्षित

गुप्त साम्राज्य उत्तर भारत में चौथी शताब्दी ई. में स्थापित किया गया था। जबकि तृतीय शताब्दी के मध्य में लंबे समय तक चली अव्यवस्था के पश्चात कुषाण साम्राज्य समाप्त हो गया था। इस अंतरिम काल में अनेक नए व्यक्तित्वों तथा राज्यों का उदय हुआ जिनके संबंध में बहुत कम ऐतिहासिक अभिलेख उपलब्ध हैं। गुप्त साम्राज्य की स्थापना के पश्चात ही लगभग संपूर्ण उत्तर भारत में एक बार पुनः एकता और शांति की स्थापना हुई थी। गुप्त साम्राज्य का कार्यकाल दो शताब्दियों

से भी अधिक चला तथा यह काफी विशाल साम्राज्य था। यह उत्तर भारत के एक बड़े भू–भाग में तथा पूर्व में बल्ख तक फैला हुआ था। पश्चिम में गुप्तों ने विदेशी आक्रमणकारियों को पूर्णतः परास्त कर दिया था जिन्होंने गुजरात में 200 वर्ष से भी अधिक तक राज्य किया था। 'स्वर्ण युग' तथा 'शास्त्रीय काल' कहलाने वाले गुप्त युग में सभी कलाओं में संतुलन और सामंजस्य था तथा वहाँ का प्रशासन तंत्र दक्ष था। फाहियान ने, जो एक चीनी भिक्षु था, उस काल में इस देश की यात्रा की थी तथा उसने अपनी यात्राओं का एक वृतांत भी लिखा जिसमें उसने उस काल में भारत में शांति, गंभीर अपराधों की विरलता और प्रशासन की परोपकारिता का उल्लेख किया है। अस्पृश्यों तथा निम्न श्रेणी की जातियों के सिवाय अधिकांश भारतीय शाकाहारी थे। हिंदुत्व समस्त ओर फैला हुआ था यद्यपि बौद्ध धर्म भी फल–फूल रहा था। प्राचीन भारतीय वेशभूषा कालक्रमानुसार गुप्त काल में कनौज के हर्ष का शासन काल (606–647 ई.) भी सम्मिलित है जिसने श्वेत हयूनों के आक्रमणों के पश्चात साम्राज्य का गौरव पुनरुज्जीवित किया था। हर्ष और गुप्त, दोनों ही कभी दक्षिण पर विजय प्राप्त नहीं कर सके थे जहां पल्लवों और चालुक्यों ने सातवाहनों से शासन प्राप्त किया था। कुषाणों के समय में पश्चिमी संसार के रोमन साम्राज्य के प्रभुत्व के कारण उसका अत्यधिक प्रभाव था। किंतु अब पश्चातवर्ती के विघटन के परिणामस्वरूप भारत अकेला पड़ गया था तथा विशुद्ध भारतीय आदशों का सुदूर पूर्व तथा दक्षिण एशिया में प्रसार भी किया जा रहा था जहाँ व्यापार तथा धर्म के माध्यम से अधिक संपर्क स्थापित किए गए थे। दकन में गुप्तों ने नहीं बल्कि वकाटकाओं ने पाँचवीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध से सातवीं शताब्दी तक शासन किया तथा उनके पश्चात चालुक्य सम्राट पुलाकिसिन–द्वितीय (609–642 ई.) शासन में आया। यह क्षेत्र तथा कालखंड गुप्त काल की वेशभूषा के खंड के अधीन सम्मिलित किया गया है क्योंकि उस समय तक गुप्त स्तरीय वेशभूषा दकन में तथा उत्तर भारत के अधिकांश भाग में प्रवेश कर चुकी थी। विगत कालों में वेशभूषा का साक्ष्य मुख्य रूप से मूर्तिकला पर आधारित था किंतु इस काल में भित्तिचित्र समकालीन जीवन की विविधता तथा पहनावे को दर्शाते हैं। किसी भी पूर्व युग की तुलना में इस काल में सिली हुई वेशभूषा को विशेष रूप से प्राथमिकता दी जाती थी तथा उत्तर भारत व दकन के लिए वेशभूषा का स्पष्ट निर्धारण किया जाना प्रारंभ हो गया था। जिसके फलस्वरूप उसके बाद वेशभूषाओं की प्राथमिकता निश्चित की जाने लगी थी जिसे हम आज भी देखते हैं। कुषाण काल में सिली हुई वेशभूषा को एक प्रतिष्ठा प्राप्त हो गई थी तथा उसे राजत्व के साथ जोड़ा जाता था। क्योंकि कुषाण राजा तथा उनके वंशज सौ वर्ष से भी अधिक से भारत के एक बड़े भू–भाग पर तथा मध्य एशिया में राज्य कर रहे थे। गुप्त राजाओं ने ऐसी राजसी पोशाक अपनाने के महत्व को समझ लिया था जिसकी राजत्व के साथ पारंपरिक पहचान स्थापित हो गई। उन राजाओं का गुप्तकालीन सिक्कों पर पूर्ण कुषाण पोशाक में दिखाया गया है अर्थात वे कोट, पतलून तथा बूट पहने हुए सिक्कों पर दिखाई देते हैं। तथापि वे औपचारिक अवसरों पर देशज 'अंतरीय', 'उत्तरीय' और 'कायबंध' पहनते थे।

कटी और सिली हुई वेशभूषा के अनेक प्रतिरूप विशेष रूप से दरबार में फैशन बन गए थे। ये वेशभूषाएँ भारतीयों के लिए एकदम विदेशी नहीं थीं। इसके साथ ही धीरे–धीरे वेशभूषाओं के प्रतिरूपों में परिवर्तन आ रहा था तथा पूर्व समय के देशज कंचुक से, जो पूर्व समय से ही हरम के अभिभावकों तथा

परिचारकों के नाम से जुड़ गया था, संभवतया जरी के कुरतों के निर्माण की प्रेरणा प्राप्त हुई। जिसकी लंबी अथवा छोटी आस्तीनें हुआ करती थीं और जिन्हें मंत्रीगण, चौकीदार, द्वारपाल तथा दरबार के परिचारक पहना करते थे। प्रायः इसका साधारण रूप भी दिखाई देता है जो एक पिंडली तक लंबा सफेद कुरता होता था जिसे कंचुकी के साथ पहना जाता था तथा जिसके साथ एक 'चादर' इस पोशाक की शोभा बढ़ा देती थी। अधोवस्त्र प्रायः 'अंतरीय' होता था जिसके साथ कभी–कभी 'कंचुक' पहना–जाता था और जिसे कमीज के जैसे अंदर डाला जाता था। 'कायबंध' का उपयोग वेशभूषा को यथास्थान बनाए रखने के लिए किया जाता था। 'उष्णीश' (पगड़ी) का चलन धीरे–धीरे पुराना पड़ गया था तथा इसका उपयोग मुख्य रूप से कतिपय विशिष्ट व्यक्तियों, मंत्रीगण तथा अन्य अधिकारियों तक ही सीमित था।

राजदरबारों में विदेशियों का दिखाई देना सामान्य बात थी क्योंकि इस काल में भारत तथा ईरान के मध्य व्यापार तथा वाणिज्यिक व्यवहार शिखर पर था। फारस के लहराते फीते की सजावट के समृद्ध फैशन का प्रभाव, जो फारस के खुसरो–द्वितीय (600 ई.) के दरबार में प्रचलित था, भारतीय कला पर स्पष्ट दिखाई देता है। उत्तर भारत में, जहाँ जलवायु संबंधी स्थितियाँ अधिक अनुकूल थीं, सिली हुई वेशभूषाओं पर अधिक बल दिया जाता था किंतु दक्षिण में, जैसा कि आज भी स्पष्ट है, देशज 'अंतरीय', 'उत्तरीय' तथा 'कायबंध' का अपना अलग स्थान था। यह आश्चर्य की बात है कि यद्यपि गुप्तकालीन सिक्कों पर राजवंश को कुषाण सम्राटों की सिली हुई वेशभूषाएँ पहने हुए दिखाया गया है। अंजता की चित्रकला में सम्राट तथा अभिजात वर्ग के अन्य सदस्यों को उस काल में भी बढ़िया रेशम अथवा मलमल के 'अंतरीय' पहने हुए दिखाया गया है। सम्राटों की वेशभूषा प्रायः नीली धारीदार बारीक बुने हुए रेशम की होती थी तथा उनके 'उत्तरीय' लहराते हुए हुआ करते थे। इन दोनों पोशाकों की किनारियाँ बुनी हुई होती थीं। 'कायबंध' के स्थान पर एक सादा नाड़ा अथवा पट्टा अधिक लोकप्रिय था जिसे एक या दो बार 'अंतरीय' की पकड़ मजबूत रखने के लिए चारों ओर विभिन्न प्रकार से बाँधकर बक्कल अथवा गाँठ से कस लिया जाता था। कभी–कभी 'उत्तरीय' को ही मोटे रूप में मोड़कर कमर से टेढ़ा करके पहना जाता था तथा बाएँ कूल्हे पर एक बड़ी गाँठ लगाई जाती थी जिसपर हाथ हर सके या उसे आकस्मिक रूप से बाएं कँधे पर डाल लिया जाता था। अलंकृत 'मुकुट' तथा उत्कृष्ट आभूषणों से ही सम्राट तथा अन्य प्रतिष्ठित व्यक्ति वास्तव में दूसरे राजकीय संगी–साथियों से अलग दिखाई देते थे। कुछ विद्वानों का विश्वास है कि अलंकृत 'मुकुट' कभी भी उपयोग में नहीं लाए जाते थे किंतु ये केवल देवत्व तथा राजत्व के प्रतीक थे। पुरुषों की वेशभूषा के संबंध में उस प्रभाव के बारे में जानकारी प्राप्त करना सहज है जो मुख्य रूप से आक्रमणकारियों तथा व्यापारियों के कारण पुरुषों की वेशभूषा पर पड़ा। तथापि महिलाओं की वेशभूषाएँ इतनी अधिक विविधतापूर्ण थीं कि उनके वास्तविक स्रोतों की जानकारी प्राप्त करना अत्यंत कठिन है। 'अंतरीय' की चौड़ाई 18–36 इंच तथा लँबाई 4–8 गज होती थी तथा उसे विभिन्न प्रकार से पहना जाता था। छोटा और बड़ा 'अंतरीय' 'लांगदार' शैली अथवा 'लहंगा' जैसे पहना जाता था तथा इसे पहले दाएँ कूल्हे के चारों ओर और तत्पश्चात शरीर के चारों ओर लपेटकर बाएँ कूल्हे पर उरस लिया जाता था। दूसरे प्रकार का अंतरीय 'लांगदार' और 'लहंगा', दोनों ही शैलियों में पहना जाता था। सामान्य रूप से यह बहुत छोटे आकार का 'अंतरीय' होता था जिसकी लँबाई मध्य जंघा तक होती थी तथा उसे 'कलासिका' कहा जाता था। उसे पहनने के लिए पहले 'लांगदार' शैली में खींचा जाता था तथा तीन गज लंबी सामग्री के बड़े सिरे को छोटे 'लहंगे' की भाँति चारों ओर लपेटा जाता था। एक सामान्य किस्म का कसा हुआ 'अंतरीय' होता था जो लिनन का होता था तथा जिसे निम्न श्रेणी के व्यक्ति पहनते थे। टखनों तक लँबा 'अंतरीय' सामान्य रूप से भद्रजन तथा उच्चस्तरीय स्त्रियों द्वारा पहना जाता था। परिचारक प्रायः छोटे किस्म के 'अंतरीय' पहनते थे। परंतु समस्त मामलों में 'अंतरीय' कूल्हे की हड्डियों के सहारे नाभि के नीचे बाँधे जाते थे।

'अंतरीय' को यदा–कदा इंडोनेशिया के सारोंग की भाँति पहना जाता था–सारोंग एक प्रकार का चौड़ा वस्त्र होता है जो सामान्य रूप से चारों ओर ओढ़कर जंघा के मध्य तक पहना जाता है। इसके पहनने की गुप्त काल की मुख्य भिन्नता जो पूर्व कालों से अलग थी, वह यह' शैली स्त्रियों में कम लोकप्रिय रह गई थी। धीरे–धीरे उसका स्थान अधिक नारी–सुलभ 'लहंगे' अथवा 'लुंगी' ने ले लिया था जिन्हें आज भी इसी रूप में जाना जाता है यद्यपि महारानी तथा राजघरानों की महिलाएँ पूर्ववत रूढ़िवादी बनी रही थीं। यह रूढ़िवादी 'लांगदार' शैली आज भी महाराष्ट्र तथा दक्षिण भारतीय स्त्रियों ने अपनाई हुई है। घाघरा (स्कर्ट) 'भैरनिवसनी' जो 'अंतरीय' का विकसित रूप है, एक ओर से सिलने पर नाड़े के लिए नलदार बन जाता है, कमर पर घेर बनाकर पहना जाता था तथा उसे एक कमरबंद द्वारा संभाला जाता था। ये सिले हुए घाघरे का प्रारंभिक बेढंगा रूप था तथा इसका उपयोग आरंभिक कांस्य युग में जर्मन प्रजातियों द्वारा किया जाता था। यह मुख्य रूप से ग्रामीण स्त्रियों द्वारा पहना जाता था तथा यह पहनने में अत्यंत आकर्षक लगता था क्योंकि इसमें कपड़े की गोट मध्य में सजावट के लिए खड़ी लगाई जाती थी। एक भारी सिमटा हुआ घाघरा जो 'घाघरी' का ही एक विकसित रूप था तथा जिसका पहनावा भारत में संभवतया विदेशियों द्वारा प्रारंभ किया गया था, वह भी देखा जा सकता था। ऐसा लगता है कि इसका उपयोग मुख्य रूप से नृत्यांगनाओं द्वारा किया जाता होगा जिसकी अनेक कलियाँ इकट्ठा होकर घूमने पर आकर्षक प्रभाव उत्पन्न करती थीं। यह घाघरा आज भी अनेक ग्रामीण महिलाओं द्वारा पहना जाता है जिनमें भारत की लंबादी तथा बंजारा घुमंतू जातियाँ भी सम्मिलित हैं।

पुरातन साहित्य और कथाएँ

मनीष रत्नपारखी

प्राचीन साहित्य में स्पष्ट रूप से दो अर्थों को लेकर 'कथा' शब्द व्यवहृत है–साधारण कहानी व अलंकृत काव्य साधारण कहानी के अर्थ में 'पंचतंत्र' की कथाएँ भी कथा हैं। महाभारत और पुराणों के आख्यान भी कथा हैं और सुबंधु की 'वासवदत्त', बाण की 'कादम्बरी', गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' आदि भी कथा हैं। पर विशिष्ट अर्थ में यह शब्द अलंकृत गद्य काव्य के लिए प्रयुक्त हुआ है। उस अर्थ में कथा शब्द का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है और आज भी अनेक अर्थों में वह प्रयुक्त है। परंतु इस सामान्य अर्थ के अलावा अलंकृत गद्य काव्य की कहानी के अर्थ में कथा शब्द का जो शास्त्रीय अर्थपरक प्रयोग है, मुख्यतः उसका उल्लेख यहाँ करना है। लक्षणकार आचार्यों ने जिन लक्षणों को निरूपित किया है, उनकी परिकल्पना असंदिग्ध रूप से उनके सामने वर्तमान लक्ष्य कृतियों के आधार पर ही हुई होगी। रुद्रदामा का शिलालेख भी गद्य काव्य का अच्छा नमूना है। हो सकता है, आख्यायिका भी पुराने जमाने की संस्कृत गद्य–काव्य कृति रही हो। संस्कृत साहित्य के पुराने आचार्य भामह ने सबसे पहले अपने काव्यालंकार में आख्यायिका और कथा का अंतर बताते हुए इनके लक्षण लिखे। सुंदर गद्य में लिखित रसमय कहानी वाली कृति आख्यायिका कही जाती है। इसकी कथा का विभाजन 'उछवास' नामक अध्यायों में होता है। वर्ण्य विषय कल्याहरण, संग्राम, विरोध आदि रहता है और अंत में नायक अपने प्रयास में सफल या विजयी दिखाया जाता है। इसके बीच–बीच में या उछवासों के आदि अंत में वक्त और अपरवक्त छन्द भी आ जाते हैं। इसकी कथा का आधार यथार्थ वृत्त होता है। फलतः कल्पना की अतिरंजना इसमें कम या नहीं के बराबर होती है। इसकी कथा का वक्ता भी और कोई और नहीं वरन् स्वयं नायक ही होता है। आख्यायिका की भाषा भी संस्कृत ही होनी चाहिए। नायक के वक्ता होने और यथार्थ पर कथानक आधारित होने के कारण काल्पनिक वृत्त या कथानक रूढ़ियों के अधिक प्रयोग का अवसर नहीं रहता है। कथा का काव्य रूप इससे थोड़ा भिन्न होता है। उसकी कथावस्तु कल्पित होती है। कथा की कहानी कहने वाला नायक न होकर, वहाँ वक्ता श्रोता अन्य होते हैं। इन्हीं दो (वक्ता श्रोता) व्यक्तियों की बातचीत या प्रश्नोत्तर के रूप में कथा कही जाती है। कथा की भाषा भी संस्कृत, प्राकृत या अपभ्रंश, कुछ भी हो सकती है। उसमें भाषा के माध्यम का कोई बंधन नहीं होता। भामह के लक्षण को देखकर मानों उसकी आलोचना अथवा उसमें संशोधन करते हुए दंडी ने अपने काव्यादर्श में कहा है– कथा और आख्यायिका दोनों वस्तुतः एक ही कोटि की साहित्यिक रचनाएँ हैं। कहानी का कहने वाला चाहे नायक हो या और कोई, अध्याय चाहे उछवासों के नाम से विभक्त हों या लंभक नाम से, बीच–बीच में चाहे वक्त अपरवक्त छन्द आएँ या न आएँ, इन सबसे कहानी में क्या अंतर पड़ता है? अतः इन ऊपरी और बाहरी अंतरों के आधार पर कथा और आख्यायिका में भेद मानने का कोई खघस कारण नहीं है। दंडी स्वयं भी गद्य काव्य की 'दशकुमारचरित' नामक कहानी वाली एक पुस्तक के निर्माता थे। निश्चय ही उनके कथन का यह संकेत हो सकता है कि अपने समकालीन कहानी के लक्ष्य ग्रंथों का आधार लेकर भामह ने कथा आख्यायिका के जो लक्षण बताए थे, संभवतः दंडी के काल तक आते–आते लक्ष्यकारों ने उनको भुलाकर या उपेक्षित समझकर कड़ाई से उन लक्षणों का पालन करना छोड़ दिया था। फिर भी भामह के कथन में कुछ सार है। आख्यायिका के लिए शायद संस्कृत और गद्य का माध्यम ही मान्य रहा। पर कथा के लिए वे बंधन नहीं थे। गुणाढ्य की 'बृहत्कथा', संस्कृत में नहीं बल्कि प्राकृत में और गद्य में नहीं, पद्य में थी। रुद्रट और उनके टीकाकार नमिसाधु ने काव्यालंकार में इसे निरूपित करते हुए बताया है कि संस्कृत –निबद्ध–कथाओं के लिए गद्य माध्यम आवश्यक है, परंतु अन्य भाषा अर्थात् प्राकृत, अपभ्रंश आदि की कथाओं को अगद्य में लिखना चाहिए। वैसे प्राकृत की, गद्य में लिखी, वसुदेवहिंडी नामक प्राचीन कथा उपलब्ध भी है। इसके अलावा प्राकृत में लिखित पद्यबद्ध कतिपय अन्य कथाएँ भी प्राप्त हुई हैं और उनमें से अनेक प्रकाशित भी हो चुकी हैं। अनुमान किया जा सकता है, रुद्रट के कथा लक्षण और काव्यालंकार के टीकाकार नमिसाधु की व्याख्या में बताये गए लक्षण उस काल के उपलब्ध लक्ष्यों को देखकर ही निरूपित हैं। बताया गया है कि कथा या महाकथा के कथारंभ में देवता या गुरु की वंदना करने और संक्षेप में स्वकुल परिचय देने के पश्चात् कथा लेखन का उद्देश्य वर्णन रहना चाहिए। प्रारंभ में एक कथांतर भी रहना चाहिए, जो कहानी का प्रस्ताव करे। कथा गद्य और अगद्य में भी हो सकती है। सरस वर्णन युक्त कन्याप्राप्ति ही इसका प्रतिपाद्य होता है। आख्यायिका में वंश वर्णन आदि विस्तृत रहता है। कथा आख्यायिका के बारे में और भी बहुत–सी बातें बताई गई हैं। रुद्रट से पूर्व की, कौतूहल कवि की 'लीलावती' आज उपलब्ध है, जिसमें रुद्रट का कथा लक्षण प्रायः पूरा का पूरा देखा जा सकता है। कवि और कविपत्नी की बातचीत द्वारा कहानी उपस्थित की गई है। इस देश के कथा कथन की यह पुरानी प्रथा है। पुराणों में और सबसे बढ़कर 'महाभारत' में व्यास ने इसी रूप से प्रश्नोत्तरात्मक बातचीत द्वारा कथा ही नहीं, सब कुछ बता डाला है। हेमचंद्र ने अपने 'काव्यानुशासन' में प्रायः इसी प्रकार के लक्षणों द्वारा आख्यायिका और कथा को परिभाषित किया। आख्यायिका की रचना संस्कृत में होनी आवश्यक है। अन्य बातें प्रायः पूर्ववत हैं। प्राचीन आलंकारियों ने और हेमचंद्र ने भी बाण के 'हर्षचरित' को आख्यायिका का प्रतिमान माना है।

पुस्तक चर्चा/मिथिलेश यादव

गाथा एक विश्वविख्यात ग्रंथ की

'पंचतंत्र' एक विश्वविख्यात कथा ग्रन्थ है, जिसके रचयिता आचार्य विष्णु शर्मा है। इस ग्रन्थ में प्रतिपादित राजनीति के पाँच तंत्र (भाग) हैं। इसी कारण से इसे 'पंचतंत्र' नाम प्राप्त हुआ है। भारतीय साहित्य की नीति कथाओं का विश्व में महत्वपूर्ण स्थान है। पंचतंत्र उनमें प्रमुख है। पंचतंत्र को संस्कृत भाषा में 'पांच निबंध' या 'अध्याय' भी कहा जाता है। उपदेशप्रद भारतीय पशुकथाओं का संग्रह, जो अपने मूल देश तथा पूरे विश्व में व्यापक रूप से प्रसारित हुआ। यूरोप में इस पुस्तक को 'द फेबल्स ऑफ बिदपाई' के नाम से जाना जाता है। इसका एक संस्करण वहाँ 11वीं शताब्दी में ही पहुँच गया था। सिद्धांत रूप में पंचतंत्र नीति की पाठ्य पुस्तक के रूप में रचा गया है। इसकी सूक्तियाँ परोपकार की जगह चतुराई और घाघपन को महिमामंडित करती जान पड़ती है।

इसके मूल ग्रंथ संस्कृत गद्य और छंद पदों का मिश्रण है, जिसके पाँच भागों में से एक में कथाएँ है। इसकी भूमिका में समूची पुस्तक के सार को समेंटा गया है। पं. विष्णु शर्मा नामक एक विद्वान् ब्राह्मण को इन कहानियों का रचयिता बताया गया है, जिसने उपदेशप्रद पशुकथाओं के माध्यम से एक राजा के तीन मंदबुद्धि बेटों को शिक्षित करने के लिए इस पुस्तक की रचना की थी। प्रमाणों के आधार पर इस ग्रंथ की रचना के समय उनकी उम्र अस्सी वर्ष के करीब थी। पाँच अध्याय में लिखे जाने के कारण इस पुस्तक का नाम पंचतंत्र रखा गया। इस किताब में जानवरों को पात्र बनाकर शिक्षाप्रद बातें लिखी गई हैं। इसमें मुख्यतः पिंगलक नामक सिंह के सियार मंत्री के दो बेटों दमनक और करटक के बीच के संवादों और कथाओं के जरिए व्यावहारिक ज्ञान की शिक्षा दी गई है। सभी कहानियाँ प्रायः करटक और दमनक के मुंह से सुनाई गई हैं। पंचतंत्र के पाँच अध्याय (तंत्र भाग) है। मित्रभेद (मित्रों में मनमुटाव एवं अलगाव), मित्रलाभ या मित्रसंप्राप्ति (मित्र प्राप्ति एवं उसके लाभ), काकोलुकीयम् (कौवे एवं उल्लुओं की कथा), लब्धप्रणाश (मृत्यु या विनाश के आने परय यदि जान पर आ बने तो क्या?), अपरीक्षित कारक (जिसको परखा नहीं गया हो उसे करने से पहले सावधान रहें। हड़बड़ी में कदम न उठायें)।

इस पुस्तक की महत्ता इसी से प्रतिपादित होती है कि इसका अनुवाद विश्व की लगभग हर भाषा में हो चुका है। मूल रूप में संस्कृत में रचित इस ग्रंथ का हिंदी भाषा में प्रकाशन कई विदेशी भाषाओं में प्रकाशन के बाद हुआ। अब विलुप्त हो चुकी पंचतंत्र की मूल संस्कृत कृति संभवतः 100 ई.पू. से 500 ई. के बीच किसी समय अस्तित्व में आई थी। पाँच तंत्रों की ये पाँच प्रमुख कथाएँ हैं। इनके संदर्भ में भी अनेक उपकथाएँ प्रत्येक तंत्र

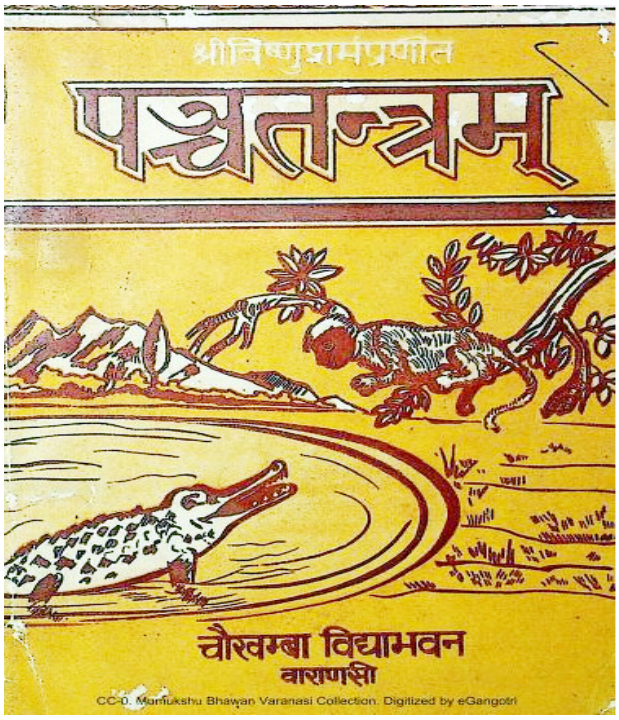

में यथासार आती हैं। प्रत्येक तंत्र इस प्रकार कथाओं की लड़ी–सा ही है। पंचतंत्र में कुल 87 कथाएँ हैं, जिनमें अधिकांश हैं, प्राणी कथाएँ। प्राणी कथाओं का उदगम सर्वप्रथम महाभारत में हुआ। विष्णु शर्मा ने अपने पंचतंत्र की रचना महाभारत से ही प्रेरणा लेकर की है। उन्होंने अपने ग्रन्थ में महाभारत के कुछ संदर्भ भी लिये हैं। इसी प्रकार से रामायण, महाभारत, मनुस्मृति तथा चाणक्य के अर्थशास्त्र से भी श्री विष्णु शर्मा ने अनेक विचार और श्लोकों को ग्रहण किया है। इससे माना जाता है कि श्री विष्णु शर्मा चंद्रगुप्त मौर्य के पश्चात् ईसा पूर्व पहली शताब्दी में हुए होंगे। पंचतंत्र की कथाओं की शैली सर्वथा स्वतंत्र है। उस का गद्य जितना सरल और स्पष्ट है, उतने ही उसके श्लोक भी समयोचित, अर्थपूर्ण, मार्मिक और पठन सुलभ हैं। परिणामस्वरूप इस ग्रन्थ की सभी कथाएँ सरस, आकर्षक एवं प्रभावपूर्ण बनी हैं। विष्णु शर्मा ने अनेक कथाओं का समारोप श्लोक से किया है और उसी से किया है आगामी कथा का सूत्रपात। पंचतंत्र की कहानियाँ अत्यन्त प्राचीन हैं। अतरू इसके विभिन्न शताब्दियों में, विभिन्न प्रान्तों में, विभिन्न संस्करण हुए हैं। इसका सर्वाधिक प्राचीन संस्करण 'तंत्राख्यायिका' के नाम से विख्यात है तथा इसका मूल स्थान काश्मीर है। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डॉक्टर हर्टेल ने अत्यन्त श्रम के साथ इसके प्रामाणिक संस्करण को खोज निकाला था।

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन के लिए 1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010 से प्रसारित. सम्पादक : श्रीराम तिवारी, समन्वयक : राजेश्वर त्रिवेदी.

आलेख सेवा निःशुल्क वितरण के लिए. फोन: 0734-2521499, 0755-2660407 Email:mvspujjain@gmail.com, vikramadityashodhpeeth@gmail.com